ईशावास्य उपनिषद्

व्यवहारिक भाष्य सहित

भाष्यकार एवं प्रकाशक
श्री रामगोपाल मोहता
बीकानेर।

प्रथ... ...व १०००] संवत् २००६ [मूल्य डाकखर्च मात्र ।=)

ॐ

ईशावास्य उपनिषद्

व्यवहारिक भाष्य

भाष्यकार एवं प्रकाशक

गीता का व्यवहार दर्शन, सात्विक जीवन, दैवी सम्पद्,
गीता विज्ञान, समय की मांग आदि सुप्रसिद्ध आध्यात्मिक,
दार्शनिक एवं व्यवहारिक ग्रंथों के लेखक, राजस्थानी
के प्रख्यात् व्यवहारिक आत्मज्ञानात्मक काव्य
"ज्ञानपद्य संग्रह" के संग्रह कर्ता व प्रकाशक
एवं 'प्रगतिसंघ' नामक लोकहितकर
प्रगतिशील संस्था के
संस्थापक

श्री रामगोपाल मोहता

बीकानेर।

प्रथम संस्करण; १०००] संवत् २००६] खर्च मात्र ।=)

ईशावास्य उपनिषद्

का

व्यवहारिक भाष्य

भूमिका

यह संसार सबके आत्मा=परमात्मा के समष्टि संकल्प का खेल है। खेल अनेक रूपों और अनेक तरह के बनावों का ही होता है और वह निरन्तर बदलता रहता है, सदा इकसार नहीं रहता। तरह तरह के बनाव निरन्तर बनते और मिटते रहना ही खेल का स्वरूप या स्वभाव होता है। इसीलिए संसार और इसका कारण—संकल्प, स्वभाव या प्रकृति-परिवर्तनशील अर्थात् निरन्तर बदलने वाला कहा जाता है। यह किसी एक निश्चित स्थति में सदा नहीं रहता। कारण के गुण ही कार्य में आते हैं, इसलिए संसार के अन्तर्गत जितने पदार्थ या व्यक्ति हैं वे, सदा एक स्थिति में नहीं रहते किन्तु निरन्तर बदलते रहते हैं।

प्रायः लोगों को यह शंका होती है कि वह परमात्मा संसार के अनन्त प्रकार के दुःख सुख आदि द्वन्द्वों से भरे हुए, मिथ्या खेल करता ही क्यों है? इसका यह उत्तर है कि "परमात्मा आप लोगों से अलग कोई विशेष व्यक्ति तो है ही नहीं कि कहीं पर अलग बैठा हुआ यह खेल करता हो। आप लोगों के सबके यानी संसार के सब व्यक्तियों के व्यक्तिगत व्यवहारों और बनावों का सम्मिलित भाव ही, उस सबके आत्मा=परमात्मा का खेल, यह संसार है। अब आप लोग

स्वयं ही विचार कीजियेगा कि हम यह नाना प्रकार के बनाव और व्यवहार क्यों करते हैं ? परमात्मा को अलग मानने से इस प्रश्न का उत्तर नहीं हो सकता, क्योंकि परमात्मा सबका अपना आप है; जब अपने से अलग दूसरा है ही नहीं तो, इसका उत्तर अपने आप ही से हो सकता है। अपने आप के ज्ञान बिना इसका समाधान नहीं हो सकता।"

फिर प्रश्न उठता है कि जब हम स्वयं परमात्मा हैं और परमात्मा ज्ञान—स्वरूप है तो फिर हम में अपने स्वरूप का अज्ञान कहां से आया; परमात्मा में अज्ञान नहीं हो सकता ? इसका यह उत्तर है कि ज्ञान और अज्ञान दोनों सापेक्ष हैं; एक के होने के लिए दूसरे का होना आवश्यक है। दोनों एक दूसरे पर निर्भर हैं। ये एक दूसरे को सिद्ध करते हैं और ये दोनों संसार के खेल के अन्तर्गत हैं। खेल के लिए दोनों विरोधी भावों के होने की आवश्यकता है। दो विरोधी भावों के बिना खेल बनता ही नहीं। रामायण के खेल में जहां राम के स्वांग की आवश्यकता है, वहां रावण के स्वांग की भी आवश्यकता ही नहीं किन्तु अनिवार्यता होती है। परन्तु खेल के खिलाड़ी, राम और रावण का स्वांग करते हुए भी, राम और रावण नहीं हो जाते किन्तु वे साधारण मनुष्य ही रहते हैं। इसी तरह संसार के खेल के खिलाड़ी, सबके आत्मा=परमात्मा में ज्ञान और अज्ञान दोनों विरोधी भावों का समावेश यानि एकत्व होने से दोनों मिलकर सम होते हैं। परमात्मा में न कोरा ज्ञान है और न अज्ञान। ज्ञान अपने आपसे अलग दूसरा कोई हो तो उसका होता है। जहां अपने आपके सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं, वहां किसका ज्ञान और किसका अज्ञान होगा।

अस्तु। सन्सार के दूसरे बनावों में तो बुद्धि का विकास न होने या कम होने के कारण, वे सर्वथा प्रकृति के आधीन रहते हुए पर-

चराता से परिवर्तन के चक्कर में घूमते रहते हैं; पर मनुष्य शरीर में बुद्धि या विचार शक्ति का विशेष विकास होने के कारण, अपनी बुद्धि के विकास की कमी बेशी के अनुसार, वह थोड़ी या बहुत, अपने में स्वतन्त्र होने की योग्यता का अनुभव करता है। वह सर्वथा संकल्प या स्वभाव या प्रकृति के आधीन बने रहना पसन्द नहीं करता, किन्तु अपने को संकल्प करने वाला अनुभव करता है। सन्सार के खेल की विचित्रता के कारण सब मनुष्यों की बुद्धि का विकास एक सा नहीं होता। उनमें भी कमी बेशी के अनन्त भेद होते रहते हैं; अतः जिस मनुष्य की बुद्धि या विचार शक्ति जितनी अधिक विकसित होती है, उतना ही अधिक वह स्वतंत्रता का अनुभव करता है, और समष्टि भाव के इस खेल में अपनी इच्छा से भाग लेता हुआ अपने व्यष्टि संकल्प से अपनी स्थिति में परिवर्तन करता रहता है। एक ही स्थिति में रहना पसन्द नहीं करता। कभी उन्नत, कभी अवनत; कभी चढ़ना, कभी गिरना; कभी दुःखी, कभी सुखी; कभी मरना, कभी जन्मना आदि द्वन्द्वों यानी विरोधी जोड़ों के नाना भावों युक्त परिवर्तन करता रहता है।

प्रायः लोगों को यह शंका होती है कि सुखी होना अथवा उन्नत होना तो सभी चाहते हैं; पर दुःखी होना या अवनत होना कोई नहीं चाहता; फिर मनुष्य अपनी इच्छा या संकल्प से सुख या उन्नत स्थिति को बदलकर दुःख या अवनत स्थिति में अपने आपको कैसे परिणत करता है ? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि मनुष्य अपने व्यक्तित्व के लिए चाहता तो सुखी या उन्नत होना ही है और उसी के लिए प्रयत्न करता है, पर जब तक व्यक्तित्व के भाव में आसक्ति रखता है और व्यक्तिगत सुख या उन्नति की चाह करता रहता है, तब तक संकल्प या प्रकृति की आधीनता बनी रहती है और परिवर्तन के चक्कर में कभी ऊँचा उठता और कभी गिरता रहता है। जब भौतिक सुखों और

भौतिक उन्नति की चाह करके, यथोचित प्रयत्न द्वारा उनकी प्राप्ति में सफल होता है तब अपनी खुशी से, दूसरे किसी के दबाव या पराधीनता बिना स्वतन्त्रता से, अनेक प्रकार के भोग विलासों, ऐश्वर्य, नाना प्रकार के व्यसनों और आलस्य प्रमाद में अत्यन्त आसक्त हो जाता है, जिसके परिणाम में दुःख और गिरावट होती है। भोग विलासों, ऐश्वर्य के मद, व्यसनों और आलस्य-प्रमाद के कारण बुद्धि का विकास रुक जाता है, विचार शक्ति कुंठित हो जाती है; तब अपने दुःखों और गिरावट का कारण अपने से भिन्न किसी दूसरी शक्ति या ईश्वर आदि को मानकर, उसको प्रसन्न करने के लिए अपनी खुशी से उसकी गरज खुशामद करने की नाना प्रकार की उपासनाएँ और हवन अनुष्ठान आदि कर्म करता है, जिससे गिरावट और दुख अधिक बढ़ते हैं। इस तरह मनुष्य आप ही अपनी स्वतन्त्र इच्छा या सकल्प से चढ़ने और गिरने का परिवर्तन करके सुखी-दुःखी होने का अनुभव करता है, और जब तक अपने पृथक व्यक्तित्व की, समष्टि आत्मा-परमात्मा के साथ एकता का अनुभव करके, अपने पृथक व्यक्तिगत स्वार्थों को सबके साथ नहीं जोड़ देता, तब तक अपने वास्तविक स्वरूप के अज्ञान के कारण, अपने को उन्नत-अवनत, सुखी-दुःखी मानकर विक्षिप्त होता रहता है। जो दशा प्रत्येक व्यक्ति की है वही दशा व्यक्तियों के समूह रूप समाज की होना स्वाभाविक है।

इस खेल के परिवर्तन के चक्कर में, एक समय वह था कि हमारा भारतवर्ष बहुत उन्नत और सुख समृद्धि सम्पन्न एवं शांति से परिपूर्ण था। उपनिषद्, भगवद्-गीता और ब्रह्मसूत्र आदि दर्शन शास्त्र इस देश की उन्नत अवस्था के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। पर अपने मूल स्वभाव के अनुसार लोगों को एक ही स्थिति में रहना पसन्द नहीं था; इसलिए सब की एकता के आत्मज्ञान को छोड़कर पृथकता के भावों से, व्यक्तिगत

स्वार्थों की खींचातानियां और भोगविलास, ऐश्वर्य, प्रमाद और आलस्य में लोग आसक्त हो गये, और स्वतन्त्र विचार शक्ति का तिरस्कार करके अन्धविश्वासों और रुढ़ियों के दास हो गये। तमोगुण की बहुत प्रबलता हो गई। बुद्धि का विपर्यास होकर समाज अनेक सम्प्रदायों, मतमतान्तरों और जाति-पांति के भेदों में विभक्त हो गया। सत् शास्त्रों के अर्थ का अनर्थ करके, स्वार्थी और हठ धर्मी लोगों ने जनता को भ्रम में डाल दिया। उपनिषद् और गीता आदि सत्-शास्त्र, जो मनुष्यों को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान देकर, संसार के इस खेल में अपना अपना स्वांग यथावत सम्पादन करने के लिए, आत्म-ज्ञान सहित सांसारिक व्यवहार करने का सच्चा मार्ग दिखाने वाले, अनुपम ज्ञान भंडार के ग्रन्थ हैं, उनके अर्थ की भी खींचातानी करके इतनी दुर्दशा कर दी, कि सन्यास मार्गीय टीकाकारों ने तो सांसारिक व्यवहार सब छोड़कर, घर ग्रहस्थ त्याग कर, सन्यास लेकर बन में रहने का विधान उनमें बताया; और भक्तिमार्ग वालों ने केवल ईश्वर की उपासना और कर्मकाण्डों में ही निरंतर लगे रहने का अर्थ लगाया। कर्म, उपासना और ज्ञान, इन तीन काण्डों के सिवाय और कुछ नहीं बताया। सांसारिक व्यवहार की सबने उपेक्षा की, जिसके बिना जनता का और स्वयं सन्यासियों, भक्तों और कर्मकाण्डियों का भी जीवन एक क्षण भर भी नहीं रह सकता। परिणाम यह हुआ कि इस देश की जनता किंकर्तव्य विमूढ़ हो गई। देश का इतना घोरतम पतन हुआ कि विदेशी लोगों ने यहाँ आकर लोगों को पराधीन किया और सर्वस्व हरण कर लिया। देश के टुकड़े हो गये। तिस पर भी पतन और विपत्तियों का अब तक कोई अन्त नहीं दीखता। पर जैसा कि मैं इस भूमिका के आरम्भ में कह आया हूँ, इस खेल में परिवर्तन का चक्कर निरन्तर चलता रहता है। लोग इस स्थिति में अब पड़े रहना नहीं चाहते, अपना सुधार करना चाहते हैं। अतः इन ग्रन्थों का सच्चा व्यवहारिक अर्थ समझकर उसके अनुसार अपना जीवन बनाने की

भावना जागृत हुई दीखती है। इसीसे उत्साहित होकर मैंने पहले गीता का "व्यवहार दर्शन" लिखकर उसमें उसके व्यवहारिक अर्थ का विस्तार से खुलासा किया, जिसको जनता ने बहुत पसन्द किया। उस सफलता को देखकर "ईशावास्य उपनिषद" का व्यवहारिक भाष्य लिखकर जनता जनार्दन की भेंट करता हूँ। आशा है इससे लोगों को अपने अधःपतन की स्थिति को बदल कर, उन्नति के पथ पर चलने में सहायता मिलेगी।

रामगोपाल मोहता

बीकानेर
संवत् २००६
आश्विन शुक्ला १
ता० २०-६-५२ ई०

ईशावास्य उपनिषद्

मंगलाचरण

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदम् पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

पूर्णम्, अदः; पूर्णम्, इदम्, पूर्णात्, पूर्णम्, उदच्यते ।
पूर्णस्य, पूर्णम्, आदाय, पूर्णम्, एव, अवशिष्यते ॥

ॐ="अ, उ, म्," इन तीन अक्षरों का योग अथवा इन तीन अक्षरों की एकता-रूप एक अक्षर "ॐ" है। इस अक्षर से यह भाव लेना चाहिये कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर, अथवा आधि-भौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक जगत्, अथवा ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय आदि, तीनों भावों में एक समान रहने वाली, त्रिपुटियों की एकता=सच्चिदानन्द रूप, सबका आत्मा अथवा परमात्मा है। इस "एकाक्षर ब्रह्म" का उपर्युक्त अर्थ सहित स्मरण करने का अभ्यास करते रहना चाहिये। प्रत्येक काम के आरम्भ में, अर्थ सहित इस "एकाक्षर ब्रह्म" का स्मरण या चिन्तन करना चाहिये। ऐसा करने से सब की एकता का भाव चित्त पर अङ्कित होता है।

पूर्णम्, अदः=वह पूर्ण है अर्थात् इन्द्रियां, मन, बुद्धि आदि से;

अथवा आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक जगत से परे और इन सबका आधार, वह आत्मा अथवा परमात्मा पूर्ण है।

पूर्णम्,, इदम्=यह पूर्ण है अर्थात् यह दृश्य जगत् भी पूर्ण है।

पूर्णात् पूर्णम्, उदच्यते=पूर्ण से पूर्ण उदय होता है अर्थात् पूर्ण परमात्मा से ही पूर्ण जगत् का उद्भव होता है, यानी परमात्मा ही जगत् का रूप धारण करता है।

पूर्णस्य, पूर्णम्, आदाय=पूर्ण से पूर्ण को लेकर अर्थात पूर्ण की पूर्णता को लेकर (पूर्ण परमात्मा सब को पूर्ण करके) भी

पूर्णम्, एव, अवशिष्यते=पूर्ण ही शेष रहता है; अर्थात पूर्ण परमात्मा से पूर्ण जगत् का उद्भव होने पर, अथवा उसके जगत् रूप होने पर भी, परमात्मा में कुछ भी अपूर्णता या कमी नहीं आती। ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः=इस तरह समझने से तीनों अवस्थाओं में पूर्ण शान्ति बनी रहती है।

स्पष्टीकरण=पूर्णात्मा परमात्मा ही जगत् के अनेक रूप धारण करता है। जो कुछ दृश्य या अदृश्य जगत है, वह सबका आत्मा या परमात्मा ही है, अन्य कुछ है नहीं; और जब दृश्य जगत् सब एक ही परमात्मा के अनेक नाम और अनेक रूपों का बनाव है, तो आत्मा की पूर्णता का गुण उसमें होना स्वाभाविक ही है; क्योंकि बनाव करने वाले से अन्यथा गुण बनाव में नहीं हो सकते। इसलिए जगत् को अपूर्ण या दुःख रूप समझना भूल है। आत्मा या परमात्मा को जगत् से अलग मानने की भेद-बुद्धि से ही यह भूल होती है और सब कुछ आत्मा-रूप होने के ज्ञान से यह भूल मिट जाती है। एक अद्वितीय आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूप धारण करने से उसमें कोई विकार या त्रुटि नहीं आ जाती; क्योंकि वास्तव में अनेकता के बनावों

से उसकी एकता भंग नहीं होती; उसके कोई खण्ड या टुकड़े नहीं होते। समुद्र में लहरें उठने से समुद्र की एकता और पूर्णता में जरा भी अन्तर नहीं आता; लहरें केवल ऊपरी दिखाव मात्र होती हैं, लहरें उठने के दिखाव से समुद्र के भीतर की तह में कोई फेरफार नहीं होता, किन्तु वह अचल और भरपूर बना रहता है। इसी तरह आत्मा में अनन्त प्रकार के बनाव होते हुए भी वह निर्विकार एवं सम बना रहता है। वह आत्मा सब का अपना आप है, इसलिए अपने और जगत् के स्वरूप और सम्बन्ध को इस तरह समझ लेने से परम शांति और अक्षय सुख बना रहता है।
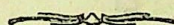
ईशावास्य उपनिषद्

ईशा वास्यमिदम् सर्वं यत्किञ्च जगत्याञ्जगत् ।
तेनत्यक्तेन भुञ्जीथा मागृधः कस्य स्विद्धनम् ॥

ईशा, वास्यम्, इदम्, सर्वम्. यत्, किञ्च, जगत्याम् जगत् ।
तेन, त्यक्तेन, भुञ्जीथा, मागृधः, कस्य स्वित् धनम् ॥

यत् किञ्च=जो कुछ । इदम्=यह ।

जगत्याञ्जगत्=व्यष्टियों का समूह-रूप समष्टि जगत् अर्थात् अनन्त भेदों युक्त प्रतीत होने वाला संसार है

(तत्) सर्वम्=वह सारा

ईशा=ईश, अर्थात् व्यष्टि रूप से शरीर, इन्द्रियां, मन बुद्धि आदि के सत्ता-स्वरूप, उन सबके स्वामी; और समष्टि रूप से आधि-भौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक जगत् के सत्ता-स्वरूप उन सबके स्वामी, सबके आत्मा=परमात्मा से

वास्यम्=आच्छादित करने अथवा बसने या रहने योग्य है; अर्थात् पिण्ड (शरीर) और ब्रह्माण्ड (जगत्) का आधार, इन सबका सत्ता-स्वरूप, सबका स्वामी, सबका प्रेरक, सबका आत्मा अथवा परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण है; जगत् में जगदीश्वर और जगदीश्वर में जगत् है, दूसरे शब्दों में जगत् जगदीश्वर ही है, भेद कुछ भी नहीं है; यह अनुभव करना चाहिये।

तेन=उस (सर्वात्म-भाव या सबकी एकता के अनुभव) से

त्यक्तेन=(अपने पृथक् व्यक्तित्व के भाव और स्वार्थों के) त्याग पूर्वक, अर्थात् दूसरों से अपने पृथक् व्यक्तित्व का भाव और पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थों को सबके साथ जोड़कर अपनी व्यष्टि को समष्टि के अन्तर्गत समझकर, सबके साथ सहयोग रखते हुए,

भुञ्जीथा=(शरीर के भोगों को) भोगो,

मागृधः=लोभ मत करो, अर्थात दूसरों से पृथक् अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि का लालच मत करो।

कस्यस्वित् धनम्=धन किसका हुआ है; अर्थात् संसार के पदार्थों अथवा धन सम्पत्ति पर किसी व्यक्ति विशेष का अधिकार नहीं है।

स्पष्टीकरण—सबका आत्मा परमात्मा अपनी इच्छा या संकल्प से अनेक रूप धारण करके संसार के खेल करता है। खेल करना

खिलाड़ी के अधिकार में होता है अतः वह खेल का स्वामी होता है। इसीलिए मन्त्र में "ईश" शब्द का प्रयोग हुआ है। खेल का आधार खिलाड़ी होता है। खिलाड़ी की सत्ता ही से खेल होता है। इसलिए खेल का स्वामी खिलाड़ी अनंत प्रकार के बनावों और भावों में परिपूर्ण होता है; और वे अनन्त प्रकार के भाव और बनाव खिलाड़ी में ही होते हैं। वास्तव में खिलाड़ी के अस्तित्व से रहित खेल कुछ होता ही नहीं; इस लिए मन्त्र में "वास्यम्" शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका यह भाव है कि जगत् में वह रहता है और उसको वह आच्छादित करता है अर्थात् बाहर भीतर सर्वत्र वह है। जगत् में वह है और उसमें जगत् है। अतः अनन्त भेदों वाले संसार को उस खेल के खिलाड़ी, उसके स्वामी —सबके आत्मामय अनुभव करना चाहिये, अर्थात् जगत् को जगदीश्वर रूप ही समझना चाहिये। और जब वह ईश या परमात्मा, सब का आत्मा है और सर्वत्र परिपूर्ण है, उससे भिन्न कुछ है ही नहीं; तब प्रत्येक व्यक्ति उसका ही रूप है; क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का सब में समावेश है और प्रत्येक व्यक्ति से ही समष्टि बनता है। इस प्रकार व्यष्टि और समष्टि की एकता है; इसलिए प्रत्येक व्यक्ति अपनी सृष्टि के बनाव का ईश या स्वामी है। अपने यथार्थ स्वरूप के अज्ञान से, अपने को दूसरों से पृथक, एक तुच्छ व्यक्ति मानकर जो हीनता, दीनता, दासता और अपूर्णता के भाव अपने साथ लगा रक्खे हैं, उन सब को छोड़कर, सबके साथ अपनी एकता के सर्वात्म-भाव का अनुभव करते हुए, अपने आपको परिपूर्ण समझना चाहिये; और उस अनुभव से अपने सर्वात्म-भाव के इस खेल में, जिस व्यक्ति-भाव के शरीर का स्वांग धारण किया हो, उसको इस स्वांग के स्वामी-भाव से सम्पादन करते हुए, उस शरीर रूपी स्वांग के उपयुक्त भोगों को भोगना चाहिये। उनको मिथ्या अथवा बन्धन रूप समझकर, उनका तिरस्कार करके, स्वांग बिगाड़ना नहीं चाहिये; न अपने स्वांग में

अत्यन्त आसक्ति करके, उसके मोह और लोभ के वश होकर दूसरों के स्वांग को हानि पहुँचाने या उनके हिस्से के भोगों में बाधा देने में प्रवृत्त होना चाहिये; क्योंकि खेल, सब स्वांगों के अपने अपने स्वांग के कर्तव्य-कर्म सब के साथ सहयोग रखते हुए, पालन करने से तथा दूसरों के स्वांगों के साथ एकता रखते हुए, परस्पर के मेल से ही अच्छी तरह सम्पादन होता है। अकेला कोई व्यक्ति, दूसरों के सहयोग बिना किसी प्रकार का खेल या कार्य सम्पादन नहीं कर सकता; अतः अपने समष्टि-भाव की रचना के पदार्थों अथवा धन सम्पत्ति आदि में पृथक व्यक्तित्व के भाव की आसक्ति करके, मोह और लोभ के वश में उनको केवल अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति समझकर दूसरों को उनसे वंचित रखने से खेल बिगड़ता है और ऐसा करने वालों की भी घोर दुर्दशा होती है। (इसी मन्त्र का भाव गीता के छठे अध्याय के ३० से ३२ तक के श्लोकों में और १८ वें अध्याय के ६१-६२ श्लोकों में है।)

(नोट) भेद बाद के साम्प्रदायिक टीकाकारों ने "ईश" शब्द का अर्थ जगत् से या आत्मा यानी अपने आप से भिन्न "ईश्वर" मान कर उपास्य उपासक या स्वामी सेवक का भेद किया है, परन्तु जब इसी मन्त्र में उस "ईश" को जगत् के सारे बनावों के अन्दर और सारे बनाव उसके अन्दर कहा गया है, तब उपास्य उपासक और स्वामी सेवक के भेद के लिए कोई अवकाश नहीं रहता; किन्तु सर्वत्र एकता होती है। पर साम्प्रदायिक लोगों ने पूरे मन्त्र की संगति करने की उपेक्षा करके अपना मन माना अर्थ हठधर्मी से किया है।

× × ×

प्रथम मन्त्र में जगत् की एकता का मूल सिद्धान्त स्थापित करके अब दूसरे मन्त्र में, सब की एकता के आत्म-ज्ञान पूर्वक अपने अपने शरीरों की योग्यता के कर्तव्य कर्म, लोक संग्रह के लिए, सौ वर्षों की पूरी आयु तक, करते रहने का सब के लिए अनिवार्य विधान किया गया है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवंत्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

कुर्वन्, एव, इह, कर्माणि, जिजीविषेत, शतम्, समाः ।
एवम्, त्वयि, न अन्यथा, इतः, अस्ति, न कर्म, लिप्यते, नरे ॥

इह = इस संसार में
कर्माणि — (अपने शरीर की योग्यता के कर्तव्य) कर्मों को
कुर्वन्नेव = करते हुए ही
शतम् — सौ
समाः = वर्षों तक
जिजीविषेत् = जीने की इच्छा करे
इतः — इसके अतिरिक्त
अन्यथा = दूसरा कोई (मार्ग)
न = नहीं
अस्ति = है

एवम् = इस प्रकार अर्थात् प्रथम मन्त्र में कहे अनुसार, सब संसार को एक ही आत्मा या सब के अपने आप=परमात्मा के अनेक रूप समझ कर, सब की एकता के निश्चय से, अपने व्यक्तिगत स्वार्था को सब के स्वार्थों के साथ जोड़ कर, लोकसंग्रह के लिए, यावज्जीवन अपने कर्तव्य-कर्मों को करते रहने से ।

त्वयि = तुझ
नरे मनुष्य में
कर्म = कर्म
न = नहीं

लिप्यते = लिपायमान होते अर्थात् कर्मों का बन्धन नहीं होता

स्पष्टीकरण —अनन्त व्यक्तियों के भिन्न भिन्न रूपों और अनन्त भेदों में बंटा हुआ प्रतीत होने वाला—यह संसार एक ही सब के आत्मा=परमात्मा के संकल्प का बनाव या खेल है। और यह

खेल कर्म-रूप है, अर्थात् सब व्यक्तियों के कर्म करने के योग से ही यह बना रहता है; और जिस तरह सारे संसार का अस्तित्व प्रत्येक व्यक्ति के, अपनी अपनी योग्यता के कर्म करने पर निर्भर है, उसी तरह प्रत्येक व्यक्ति का अस्तित्व भी सारे संसार की क्रियाशीलता पर निर्भर है। इस तरह सारे ससार का बनाव अन्योन्याश्रित, अर्थात् एक दूसरे पर निर्भर रहने वाला, यज्ञ चक्र है। सब व्यक्तियों का योग संसार है और संसार में सब व्यक्ति है। व्यष्टियों से समष्टि है और समष्टि में व्यष्टि है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति और सारे संसार के अस्तित्व के लिए, प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अपनी स्वाभाविक योग्यता के कर्तव्य-कर्म, सौ वर्ष तक जीवित रहते हुए भी करते रह कर, इस यज्ञ चक्र में योग देना चाहिये। यह अत्यन्त आवश्यक ही नहीं किन्तु अनिवार्य है कि कोई भी व्यक्ति निकम्मा न रहे। यदि कोई व्यक्ति अपने शरीर की योग्यता के कर्म करना छोड़ कर निठल्ला बैठा रहता है, तो वह इस संसार चक्र के चलने में रुकावटें और त्रुटि उत्पन्न करने के साथ साथ अपने जीवन में भी रूकावटें और त्रुटियें उपस्थित करता है। जिस तरह एक यन्त्र (मशीन) को समुचित ढंग से चालू रखने के लिए यह आवश्यक है कि उसके सब छोटे बड़े कल पुर्जे एक दूसरे से जुटे हुए, अपने अपने कार्य में क्रियाशील रहें, उसी तरह इस संसार चक्र को चलाने के लिए सब लोगों को चाहिये कि अपनी अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्मों को बराबर करते रहें, जिससे इसकी व्यवस्था ठीक बनी रहे; और अपने जीवन का भी १०० वर्षों की पूरी आयु तक निर्वाह अच्छी तरह होता रहे। किसी को अपने कर्तव्य-कर्म दुःख रूप या बन्धन रूप समझ कर नहीं छोड़ना चाहिये। पर वे कर्म केवल अपने विशेष व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के, अर्थात् अपने प्रत्यक्ष के सुखों और परोक्ष के कल्याण के लिए ही नहीं होने चाहिये, किन्तु संसार चक्र को सुव्यस्थित रूप से चलाने में योग

देने के लोक-संग्रह के उद्देश्य से होने चाहिये। ऐसा करने से न तो वे कर्म किसी व्यक्ति को दुःख रूप या बोझ रूप या बन्धन रूप प्रतीत होंगे और न उनमें उलझन होगी। दुःख, बन्धन या उलझन तो दूसरों से अपने पृथक व्यक्तित्व के भाव से पृथक व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए कर्म करने से होते हैं, अथवा अपने पृथक आराम या कल्याण या मुक्ति की इच्छा से, संसार के व्यवहार त्यागने से होते हैं। दोनों मन्त्रों की संगति करने पर इसमें कोई संदेह नहीं रहता है कि प्रथम मन्त्र के "त्यक्तेन" शब्द का अर्थ, कर्म त्यागने का नहीं है किन्तु पृथक व्यक्तित्व का भाव और व्यक्तिगत स्वार्थ, सब के साथ जोड़ने का है। उसी भाव को इस दूसरे मन्त्र में स्पष्ट किया गया है। (गीता के दूसरे अध्याय के ५० वें श्लोक में इसी को "कर्म कौशल" कहा है। और तीसरे अध्याय के श्लोक ६ से १६ तक इसी "यज्ञ-चक्र" का विधान करके ३५ वें श्लोक तक कर्मों की अवश्य कर्तव्यता का विस्तार से खुलासा किया गया है। १८ वें अध्याय के ७ से १२ और ४५ से ५० तक के श्लोकों में भी इसी की पुष्टि की गई है।)

(नोट) निवृत्ति मार्ग के टीकाकारों ने यह मंत्र मध्यम अधिकारी के लिए बताया है, परन्तु न तो मन्त्र में कहीं ऐसा कहा है और न पूर्वापर की संगति करने से अधिकारी भेद पाया जाता है। केवल साम्प्रदायिक खींचातानी से अधिकारी भेद खड़ा किया गया है। यहां तो इन दो मन्त्रों में सबकी एकता के आत्मज्ञान युक्त, अपने कर्तव्य कर्म, लोक संग्रह के लिए यावज्जीवन करने का, सब के लिए समान रूप से आवश्यक ही नहीं किन्तु अनिवार्य विधान स्पष्टतया किया गया है। ये दोनों मन्त्र एक दूसरे के साथ जुड़े हुए एक दूसरे के पूरक हैं।

× × ×

प्रथम और दूसरे मन्त्र में सब की एकता के ज्ञान युक्त अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म, लोक-संग्रह के लिए अवश्य

करते रहने का विधान करके, अब तीसरे मन्त्र में इस तरह न करने वाले आत्म-हत्यारों की अधोगति व हानि का वर्णन किया गया है।

असुर्य्या नाम ते लोका, अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ।३।

असुर्य्याः, नाम, ते, लोकाः, अन्धेन, तमसा, आवृताः ।
तान्, ते, प्रेत्य, अभिगच्छन्ति, ये, के, च, आत्महनः जना

अन्धेन च तमसा=अन्धकार और तमोगुण से
आवृताः=आच्छादित या ढके हुए
असुर्य्या — असुरों के योग्य
ते = वे
नाम = प्रसिद्ध
लोकाः = लोक
तान् = उन (लोकों) को

ये = जो
के = कोई
आत्महनः = आत्म हत्यारे
जनाः = लोग हैं
ते = वे
प्रेत्य = मरकर
अभिगच्छन्ति जाते हैं।

स्पष्टीकरण—जो लोग प्रथम और दूसरे मन्त्र के विधान अनुसार सर्वात्म-भाव से, लोक-संग्रह के अपने कर्तव्य कर्म नहीं करते, किन्तु उसके विपरीत केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के लिए कर्म करते हैं, अथवा पृथकता के भाव से अपने शरीर की योग्यता के कर्तव्य-कर्म त्याग कर, निठल्ले रह कर अपने पृथक व्यक्तिगत कल्याण के लिए, एक व्यक्ति ईश्वर की अनेक प्रकार की भक्ति या उपासना या वैदिक कर्म-काण्ड, हवन-यज्ञ, पूजा-पाठ, जप-तप, व्रत-उपवास आदि धार्मिक कृत्य करने या अपनी पृथक व्यक्तिगत मोक्ष की प्राप्ति के लिए, कोरे सूखे आत्म-ज्ञान की बाते बना कर "अहं ब्रह्मास्मि" रटने या

आत्म-चिन्तन के ध्यान में या योग की समाधि आदि में लगे रहते हैं उनको इस तीसरे मन्त्र में आत्म-हत्यारे कहा है। क्योंकि आत्मा सब की एक है, उसको अलग मान कर उसके टुकड़े करना अथवा अपने से और जगत् से भिन्न ईश्वर को अपना स्वामी और अपने को उसका दास मान कर उसकी कृपा प्राप्त करने के लिए दीनता-हीनता से हवन-यज्ञ आदि कर्मकाण्ड या उपासना द्वारा उसकी खुशामद में लग कर अपनी आत्मा का पतन करना, अथवा नित्य-मुक्त-स्वरूप आत्मा की मुक्ति कहीं बाहर से प्राप्त करने का भाव रखना ही आत्मा की हत्या करना है।

अस्तु। पृथकता के भाव से अपने व्यक्तिगत सुखों या कल्याण या मुक्ति की प्राप्ति के लिए अपने समष्टि-भाव के बनाव-रूप इस संसार में, अपने शरीर की योग्यता के कर्तव्यकर्म, लोक-संग्रह के लिए न करके, विच्छृंखलता उत्पन्न करने वाले आत्म-हत्यारे लोग, यद्यपि मरने के बाद स्वर्गादि सुख, कल्याण अथवा मुक्ति की आशा रखते हैं, परन्तु उनकी वे आशाएँ झूठी और निष्फल होती है। वास्तव में उनकी बड़ी दुर्गति होती है। वे परलोक में ऐसी अन्धकारमय जड़ता को पत्थर, वनस्पति अथवा पशु पक्षी आदि योनियों में जाते हैं, जहां कुछ भी समझने-विचारने और फिर से अपनी उन्नति करने की योग्यता नहीं होती। (गीता के ६ वें अध्याय के ११-१२ श्लोकों और १६ वें अध्याय के १७ से लेकर २० तक के श्लोकों में भी यही कहा गया है।)

× × ×

अब आगे के दो मन्त्रों में, प्रथम मन्त्र में कहे हुए "ईश" यानी सब के आत्मा=परमात्मा के स्वरूप की व्याख्या की गई है-

——

अनेजदेकंमनसो जवीयो नैतद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतो ऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

अनेजत्, एकम्, मनसः, जवीयः, न एतत्, देवाः, आप्नुवन्, पूर्वम्, अर्षत्, तत्, धावतः, अन्यान्, अत्येति तिष्ठन्, तस्मिन्, अपः, मातरिश्वा, दधाति ॥

अनेजत्=अचल
एकम्=एक (और)
मनसः=मन से (भी)
जवीयः=आगे जाने वाले
एतत्=इस (आत्मा) को
देवाः=देव लोग अर्थात् इन्द्रियां
न=नहीं
आप्नुवन्=प्राप्त कर सकती है
(क्यों कि वह)
पूर्वम्=पहले ही
अर्षत्=गया हुआ
तिष्ठत्=स्थित है अर्थात् वह
स्वतः प्राप्त है

तत्=वह
धावतः=दौड़ते (हुए)
अन्यान्=दूसरों को
अत्येति=उल्लंघन करता है
अर्थात पहले ही स्थित है
तस्मिन्=उस (सर्वात्मा) में
मातरिश्वा=व्यष्टि-भावापन्न
जीवात्मा
अपः=कर्मों को
दधाति=धारण करता है अर्थात्
सबका आत्मा=परमात्मा
ही व्यष्टि भाव से संसार
के बनाव करता है।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वदन्ति के।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥५॥

तत्, एजति, तत्, न, एजति, तत्, दूरे, तद्वत्, अन्ति के।
तत्, अंतरस्य, सर्वस्य, तत्, उ, सर्वस्य, अस्य, बाह्यतः ॥

तत्=वह
एजति=चलता है
तत्=वह
न=नहीं
एजति=चलता है
तत्=वह
दूरे=दूर है
तद्वत्=वैसे ही
अन्तिके=पास है

तत्=वह
अस्य=इस
सर्वस्य=सबके
अन्तः=अन्दर है
उ=और
तत्=वह
सर्वस्य=सबके
बाह्यतः=बाहर है

—

स्पष्टीकरण—वह एक अद्वितीय आत्मा सर्वत्र परिपूर्ण ठसा-ठस भरा हुआ होने के कारण उसके हिलने चलने के लिए कोई अवकाश ही नहींहै, इसलिए वह अविचल रहता है। मन चाहे कितना ही दौड़े या उछल-कूद करे, आत्मा को छोड़कर कहीं नहीं जा सकता, क्योंकि सब कुछ आत्मा ही होने के कारण वह जहां जावे वहां आत्मा ही के अन्दर रहेगा। स्वयं मन का और इन्द्रियों का आधार आत्मा ही है। मन और इन्द्रियाँ आत्मा के किसी एक अंश का बनाव है, इसलिए वे आत्मा को पृथक भाव से प्राप्त नहीं कर सकते। प्राप्त तो उसको किया जा सकता है जो अपने से भिन्न और अप्राप्त हो, पर आत्मा तो सब में स्वतः ही सदा प्राप्त है। सबमें पहले ही उपस्थित है, इसलिए मन और इन्द्रियों का उसकी प्राप्ति के लिए दौड़ धूप करना निरर्थक है। आत्मा ही अपने संकल्प से व्यष्टि-भाव धारण करके, चेतन जीवभाव रूप अपनी पराप्रकृति से, जड़-भाव की अपनी अपराप्रकृति के अन्तर्गत, मन और इन्द्रियों द्वारा सन्सार के सब बनाव और व्यवहार करता है। इन दोनों प्रकृतियों के योग के द्वन्द्वों यानी परस्पर विरोधी जोड़ों के बनाव रूप सन्सार में दोनों

विरोधी भाव उसी के हैं। अतः जंगम या चर सृष्टि भी वही है, और स्थावर या अचर सृष्टि भी वही है। अत्यन्त प्रत्यक्ष अथवा अत्यन्त स्थूल, इन्द्रिय गोचर भी वही है; और अत्यन्त अप्रत्यक्ष अथवा अत्यन्त सूक्ष्म, इन्द्रियों के अगोचर भी वही है। सब की सत्ता-स्वरूप, सबके अन्दर भी वही है; और इन बनाओं के मिटने और बदलते रहने पर भी वह ज्यों का त्यों बना रहने के कारण, सबके बाहर या सबके परे भी वही है।

(गीता अध्याय १० श्लोक २ और अध्याय १३ श्लोक १२ से १७ तक का यही भाव है।)

× × ×

अब आगे के तीन श्लोकों में यह स्पष्ट किया गया है कि प्रथम मंत्र में जिसको "ईश" कहा है, वह सबका आत्मा यानी सबका अपना आप ही है। अपने आपसे भिन्न "ईश" नहीं है। साथ ही अपने आपको सबका आत्मा=ईश रूप अनुभव करने वाले आत्मज्ञानी पुरुष के अन्तःकरण की सर्वात्म-भाव की सम एवं अविचलित स्थिति का वर्णन किया गया है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानम् ततो न विजुगुप्सते ॥६॥

यः, तु, सर्वाणि, भूतानि, आत्मनि, एव, अनुपश्यति ।
सर्वभूतेषु, च, आत्मानम्, ततः, न, विजुगुप्सते ॥

तु=और
यः=जो (आत्मज्ञानी पुरुष)

सर्वाणि=सब
भूतानि=भूतों को अर्थात् जगत् को

आत्मनि=अपने में

एव=ही

अनुपश्यति=देखता है यानी (अनुभव करता है)

च=और

सर्वभूतेषु=सब भूतों में अर्थात सारे विश्व में

आत्मानम्=अपने को (देखता है यानी अनुभव करता है)

ततः=उससे अर्थात उस आत्मानुभव के कारण

(स)=वह

न विजुगुप्सते=घृणा नहीं करता अर्थात् संसार के व्यवहार करते हुए, उसके अन्तःकरण में कभी किसी प्रकार की घृणा या उद्वेग या सन्देह नहीं होता। वह सदा निर्विकार, निशंक और सम बना रहता है।

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

यस्मिन्, सर्वाणि, भूतानि, आत्मा, एव, अभूत्, विज्ञानतः।
तत्र, कः, मोहः, कः, शोकः, एकत्वम्, अनुपश्यतः ॥

यस्मिन्=जिस स्थिति में

विजानतः=आत्मज्ञानी को

सर्वाणि=समस्त

भूतानि=भूत प्राणी अर्थात् सारा जगत्

आत्मा=अपना आप

एव=ही

अभूत=हो गया

तत्र=उस स्थिति में

एकत्वम्=सब की एकता

अनुपश्यतः=देखने वाले को (यानी अनुभव करने वाले को)

कः=कौनसा

मोहः=मोह

कः=कौनसा

शोकः=शोक है अर्थात वह आत्मज्ञानी महापुरुष मोह और शोक से सर्वथा परे होता है

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यद-धाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

सः, पर्य्यगात्, शुक्रम्, अकायम्, अव्रणम्, अस्नाविरम्, शुद्धम्, अपापविद्धम्, कविः, मनीषी, परिभूः, स्वयम्भूः, याथातथ्यतः, अर्थान्, व्यदधात्, शाश्वतीभ्यः, समाभ्यः ॥

सः=वह आत्मज्ञानी महापुरुष (अपने को)
पर्य्यगात्=सर्व व्यापक
शुक्रम्=स्वप्रकाश
अकायम्=देह भाव रहित
अव्रणम्=छेद रहित
अस्नाविरम्=नाड़ी रहित
शुद्धम्=निर्मल
अपापविद्धम्=पाप या दोष रहित
कविः=सर्वज्ञ
मनीषी=सबके मनकी जाननेवाला
परिभूः=सबके ऊपर
स्वयम्भूः=स्व सत्ता में स्थित (अनुभव करता है)
शाश्वतीभ्यः=सदा
समाभ्यः=सर्वदा के लिये
याथातथ्यतः=यथायोग्य
अर्थान्=पदार्थों को (अपने संकल्प से)
व्यदधात्=रचा हुआ (अनुभव करता है) अर्थात् अपने संकल्प से ही सारी सृष्टि की रचना अनुभव करता है।

स्पष्टीकरण—अपने सर्वात्म-भाव का अनुभव करने वाला अभेद दर्शी आत्मज्ञानी महापुरुष, विशेष शरीरों में आसक्ति नहीं रखता और सब भूतों को अपने में तथा अपने को सबमें अनुभव करता है, अतः उसका अन्तःकरण, संसार के खेल में, अपने शरीर के स्वांग के सब प्रकार के कर्तव्य-कर्म यथावत करते हुए, किसी भी अनुकूलता या प्रतिकूलता के द्वन्द्वों से विक्षुब्ध नहीं होता, न उसको कभी आत्म-ग्लानि

होती है, किंतु वह सब अवस्थाओं में सम और निर्विकार बना रहता है। क्योंकि शरीर, जगत् और अनुकूलता-प्रतिकूलताओं को वह अपने ही संकल्प का खेल समझता है। इन सब को अपने ही कल्पित रूप जानता है। अपने आपको इनका स्वामी=ईश समझता है, अतः उसको शोक, मोह आदि विकार कुछ भी बाधा नहीं देते। शोक, मोह आदि विकारों का क्षोभ तो अपने वास्तविक स्वरूप के अज्ञान से, शरीरों में ही आसक्ति रखने वालों को होता है। देहाभिमानी अज्ञानी लोग ईश्वर को और संसार को अपने से पृथक मानते हैं, और अलग माने हुए उस ईश्वर को एक निरंकुश महाराजा या सम्राट की तरह, शासक या स्वामी, और अपने आपको उसका दास, तुच्छ, दीन-हीन प्राणी या शरीर मानकर अपने को दासता या पराधीनता के बन्धनों में बंधे हुए अनुभव करके विक्षिप्त होते हैं। पृथकता के निश्चय के कारण, सन्सार में जब प्रतिकूलता प्रतीत होती है तब उस माने हुए ईश्वर का कोप मानकर डरते, घबड़ाते, रोते, चिल्लाते हैं; और अनुकूलता प्रतीत होती है तब उस ईश्वर की कृपा मानकर हर्षित होते हैं। उस माने हुए ईश्वर के कोप से बचने और उसकी कृपा प्राप्त करने के लिए नाना प्रकार की उपासनाओं और धार्मिक कर्म-काण्डों आदि द्वारा, वे उसकी गरज खुशामद या चापलूसी करते हैं। स्वावलंबन और आत्म-विश्वास को खोकर आत्म-ग्लानि से सदा विक्षिप्त रहते हैं; जगत से राग-द्वेष करके लड़ाई झगड़ों में पड़कर दुःखी होते हैं; और इस तरह सन्सार के खेल को बिगाड़ते हैं। अथवा जगत के व्यवहारों को दुःख और बंधन रूप समझकर, उन्हें छोड़कर, निठल्ले बन जाते हैं; जिससे अन्तःकरण में समता और शान्ति कभी नहीं होती। पर जो अपने सर्वात्म-भाव का अनुभव कर लेता है, उसके अन्तःकरण में ये निर्बलताएँ नहीं रहती। वह अपने से भिन्न किसी ईश्वर को नहीं मानता, इसलिए उसके कोप से डरने या घबड़ाने का उसके लिए कोई

कारण नहीं रहता; न वह उसकी कृपा के लिए दीन-हीन बनकर, उसकी चापलूसी करके अपना आत्म-पतन करता है। सन्सार को अपने आपका खेल समझ लेने और अनुकूलता-प्रतिकूलताओं को अपनी ही बनाई हुई समझ लेने से उसके अन्तःकरण में किसी से राग या द्वेष नहीं होता। वह जगत के व्यवहारों को त्याग देने की आवश्यकता ही नहीं समझता, किन्तु अपने आपको परिपूरण अनुभव करता हुआ निर्विकार, सम और पूर्णतया शान्त बना रहता है। (गीता अध्याय ६ श्लोक २९ से ३२ और अध्याय १३ श्लोक २२ तथा श्लोक २७ से ३४ तक के भी यही भाव हैं)।

× × ×

प्रथम मन्त्र में "ईशावास्य" आदि शब्दों से जो आत्म-ज्ञान कहा है, उसकी व्याख्या ४ से ८ तक के मन्त्रों में करके, अब आगे के ६ मन्त्रों में दूसरे और तीसरे मन्त्र में कहे हुए आत्म-ज्ञान सहित सन्सार के व्यवहार करने के महत्व की विस्तार से व्याख्या की गई है-

अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाम् रताः ॥९॥

अन्धम्, तमः, प्रविशान्ति, ये, अविद्याम्, उपासते ।
ततः, भूय, इव, ते, तमः, य, उ, विद्यायाम्, रताः ॥

ये=जो (अज्ञानी लोग)
अविद्याम्=अज्ञान को
उपासते=उपासते हैं। अर्थात् आत्म-ज्ञान रहित संसार के व्यवहार करते हैं (वे)
अन्धंतमः=तमोगुण रूप अंधकार में
प्रविशन्ति=प्रवेश करते हैं अर्थात् गिरते हैं
उ=और
ततः=उससे (भी)
भूय इव=अधिकतम
तमः=अन्धकार में

ते=वे (गिरते हैं)
य उ=जो लोग
विद्यायाम्=(व्यवहार रहित कोरे) ज्ञान में (ही),
रताः=लगे रहते हैं अर्थात् सांसारिक व्यवहार छोड़कर कोरे ज्ञान की बातों में ही समय व्यतीत करते हैं।

तात्पर्य यह है कि आत्म-ज्ञान रहित कर्म करना और कर्म छोड़कर कोरे अव्यवहारिक आत्म-ज्ञान की बातों में ही लगे रहना, दोनों ही से पतन होता है। यही नहीं! बल्कि आत्म-ज्ञान रहित कार्य करने वालों की अपेक्षा निकम्मे रहकर कोरे ज्ञान की बातें बनाने वालों का अधिक पतन होता है।

अन्यदेवाहुर्विद्यया अन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणाम् ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

अन्यत्, एव, आहुः, विद्ययाः, अन्यत, आहुः, अविद्ययाः,
इति, शुश्रुम, धीराणाम्, ये, नः, तत्, विचचक्षिरे ॥

विद्ययाः=ज्ञान की
अन्यत्=अलग
एव=ही (निष्ठा)
आहुः=कहते हैं
अविद्ययाः=अज्ञान की अर्थात् व्यवहार की
अन्यत्=अलग (ही निष्ठा)
आहुः=कहते हैं
इति=ऐसा कहने वाले
धीराणाम्=बुद्धिमान पुरुषों का (मत)
शुश्रुम=हमने सुना है
ये=जिन्होंने
नः=हमारे लिए
तत्=वह (इस विषय के विचारों को)
विचचक्षिरे=प्रस्तुत किया है।

———

तात्पर्य यह है कि पहले के तत्त्ववेत्ता लोग ज्ञाननिष्ठा और व्यवहारनिष्ठा दोनों को तत्त्वतः अलग अलग मानने का प्रचार किया करते थे ।

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयम् सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥११॥

विद्याम्, च, अविद्याम्, च, यः, तत्, वेद, उभयम्, सह, अविद्यया, मृत्युम्, तीर्त्वा, विद्यया, अमृतम्, अश्नुते ॥

यः=जो
विद्याम्=ज्ञान को
च=और
अविद्याम्= सांसारिक व्यवहार करने को
तत्=उन
उभयम्=दोनों को
सह=एक साथ (एक दूसरे से सम्बन्धित)
वेद=जानता है (वह)
अविद्यया= संसार के व्यवहार करने द्वारा
मृत्युं=मृत्यु को
तीर्त्वा=जीत कर अर्थात् जीवन यात्रा अच्छी तरह करता हुवा
विद्यया=ज्ञान द्वारा अर्थात् आत्म-ज्ञान के प्रसाद से
अमृतम्=अमर भाव को
अश्नुते=प्राप्त होता है

तात्पर्य यह है कि जो आत्म-ज्ञान को सांसारिक व्यवहारों में जोड़ कर, आत्म-ज्ञान युक्त संसार के व्यवहार करता है, वह सांसारिक व्यवहारों द्वारा नाशवान् शरीरों के जीवन की आवश्यकताओं को पूरी करता हुआ, आत्म-ज्ञान के प्रसाद से अपने परमानन्द स्वरूप में स्थित रहता है ।

स्पष्टीकरण—जो देहाभिमानी लोग, पहले के आठ मन्त्रों में कहे गये, सब की एकता के आत्म-ज्ञान से रहित हैं, और अनेकता

के भावों से दूसरों के साथ राग-द्वेष करके, अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिये ही संसार के व्यवहार करते हैं, अथवा जिन कामों के करने की अपनी योग्यता न हो, वे काम करने में प्रवृत्त होकर इस संसार के खेल को बिगाड़ते हैं, अथवा अपने पारलौकिक कल्याण के लिए, धार्मिक कर्म-काण्डों में लगे रहते हैं, उनकी बुद्धि का यथोचित विकास नहीं होता; अतः वे अन्धकार रूपत मोगुण के स्थूल बनावों में ही उलझे रहते हैं। वे प्रतिक्षण बदलने वाले जगत के बनाव को ही सच्चा मान कर, उसी में सुख की प्राप्ति की आशा रखते हुए, सच्ची सुख-शान्ति के भण्डार अपने वास्तविक आप=आत्मा की खोज में प्रवृत्त नहीं होते; अतः वे मर कर पशु-पक्षियों की योनियों को प्राप्त होते हैं, जहां किसी प्रकार की उन्नति करने की योग्यता और स्वतन्त्रता नहीं होती।

और जो लोग केवल सूखे ज्ञान के अध्ययन करने और आत्म-ज्ञान की बातें बनाने में ही निरन्तर लगे रहते हैं तथा "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा अहंकार करते हैं, पर आचरण में उस ज्ञान का उपयोग कुछ भी नहीं करते, और शरीरों में आसक्ति रखते हुए, संसार को अपने से पृथक और दुःख रूप समझ कर, भेद बुद्धि से उसे त्याग देने का झूठा और अव्यवहारिक प्रपंच करते हैं, वे ऊपर कहे हुए अज्ञानी लोगों से भी अधिक अन्धकार में पड़े रहते हैं; क्योंकि उनको ज्ञानी और त्यागी होने का घमण्ड हो जाता है, जिससे देहअभिमान और अधिक बढ़ता है। यद्यपि वे बातें तो आत्म-ज्ञान की बहुत सी बनाते हैं, पर वास्तव में उनके अन्तः करण में भेद-भाव बहुत प्रबल हो जाता है; अतः वे संसार के व्यवहारों को तुच्छ और हीन समझकर उनका तरस्कार करते हैं; और साथ ही उनको बन्धन रूप समझकर उनसे दूर भागने का असफल प्रयत्न करते हैं। पर स्वय संसार के अन्तर्गत होने के कारण उससे अलग हो नहीं सकते, फलतः उभय-भ्रष्ट हो

जाते हैं, अर्थात् दोनों तरफ से गये गुजरे हो जाते हैं। यथार्थ सर्व-भूतात्मैक्य-ज्ञान के अभाव में, सांसारिक व्यवहार छोड़ देने के कारण न तो इस लोक में वे अपनी किसी प्रकार की उन्नति या सुख-शान्ति प्राप्त कर सकते हैं और न समाज की ही कोई आवश्यकता पूरी कर सकते हैं। यहां तक कि अपने शरीर के निर्वाह के लिये भी परावलम्बी बने रहते हैं। व्यक्तिगत कल्याण या मरने के बाद मोक्ष प्राप्ति की आशा में पड़े हुए वे निकम्मे बैठे आलसी (तामसी) जीवन व्यतीत करते हैं। अतः वे अधिक अन्धकार रूप तमोगुण में पड़े रहते हैं और मरने के बाद जड़-पाषाण और वृक्ष आदि की योनियां पाते हैं।

परन्तु जो आत्म-ज्ञानी लोग अपने शरीर की स्वाभाविक योग्यता के व्यवहार, अपने समष्टि भाव=परमात्मा के संकल्प के संसार रूपी इस खेल को यथावत् सम्पादन करने के लिये, सब के साथ अपनी एकता का अनुभव रखते हुए, स्वतन्त्रता पूर्वक करते हैं, वे उन व्यवहारों द्वारा इस लोक, यानी इस शरीर में सब प्रकार की उन्नति करते हुए, जीवन मुक्त अवस्था के आनन्द का अनुभव करते हैं, और शरीरों के मरने जन्मने को केवल स्वांग बदलना निश्चिय कर लेने के कारण, शरीरों के मरने को अपने आप की मृत्यु नहीं समझते। और जब इस शरीर को छोड़ते हैं तब, अपने सर्वात्म-भाव की स्थिति के स्वरूपानन्द में परिपूर्ण रहते हैं। अथवा अपनी स्वतन्त्र इच्छा से, यदि किसी दूसरे शरीर का स्वांग धारण करते हैं, तो वह स्वांग करते हुए भी अपनी परिपूर्णता के अनुभव में अविचलित रहते हैं। उस स्थिति का वर्णन वाणी से नहीं हो सकता किन्तु वह अनुभव का ही विषय है। शरीर में रहते हुए और शरीर छोड़कर भी आत्म-ज्ञानी महा-पुरुष की स्थिति एक ही समान निर्विकार बनी रहती है। जैसे एक राजा अपने गढ़ के भीतर रहता है तो भी अपने को अपने सारे राज्य का स्वामी एवं पूर्ण स्वतन्त्र अनुभव करता है, और सारे राज्य में

उसकी सत्ता बनी रहती है; और जब गढ़ के बाहर निकलता है तो भी वही अवस्था रहती है। उसी तरह आत्म-ज्ञानी महापुरुष शरीर रखते हुए, और उसे छोड़ने के बाद दोनों अवस्थाओं में अपने को परिपूर्ण अनुभव करते हैं। इसी अभिप्राय से ११वें मन्त्र में "शरीर से व्यवहार करने द्वारा मृत्यु को जीत कर, आत्मज्ञान द्वारा अमृत को प्राप्त होता है," कहा है, इन दोनों शब्दों का तात्पर्य एक ही है। मृत्यु को जीतना और अमरता को प्राप्त करने का अर्थ एक ही है। तात्पर्य यह है कि आत्म-ज्ञानी महापुरुष को सब अवस्थाओं में एक ही स्थिति रहती है। (गीता अध्याय ४ श्लोक १३ से २४ और श्लोक ३३ से ३७ तक भी इसी तरह आत्म-ज्ञान युक्त, अपनी अपनी योग्यता के कर्म चातुर्वर्ण्य व्यवस्थानुसार करने का विधान है)

९वें मन्त्र में जो यह कहा है कि "विद्या अर्थात् ज्ञान में रत रहने वाले अधिक अन्धकार में पड़ते हैं," यह बात सन्यास मार्ग वालों को सहन नहीं हो सकती, क्योंकि वे लोग स्वयं व्यवहार छोड़ कर कोरे ज्ञान में ही लगे रहते हैं। इस लिए उस मार्ग के टीकाकारों ने इन तीन श्लोकों में "विद्या" और "अविद्या" शब्दों के सच्चे और प्रसिद्ध अर्थों का अनर्थ करके, "अविद्या" को "अज्ञान" के बदले "कर्मकाण्ड" और 'विद्या' को "ज्ञान" के बदले "उपासना काण्ड" मान कर यह अर्थ किया है कि, "कर्मकाण्ड में लगे रहने वाले लोग अन्धतम में प्रवेश करते हैं और उपासना में लगे रहने वाले उससे भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं।" ज्ञान और व्यवहार का वे लोग विरोध मानते हैं, इस लिए ११वें मन्त्र में आत्म-ज्ञान सहित संसार के व्यवहार करने के स्पष्ट विधान के वाक्यों को तोड़ मरोड़ कर यह अर्थ सिद्ध करने का असफल प्रयत्न किया है, कि कर्मकाण्ड से मनुष्य मृत्यु को तरता है, और देवताओं की उपासना से अमर-भाव को प्राप्त होता है। परन्तु कर्मकाण्ड से मृत्यु को तरने और

उपासना से अमर होने का प्रतिपादन कहीं भी नहीं पाया जाता, किन्तु कर्मकाण्डों से जन्म मृत्यु के चक्कर में पड़े रहने, और उपासना से उपास्य देव की दासता के बन्धनों में बन्धे रहने का फल, सर्वत्र कथन किया गया है। इसी उपनिषद् के ६वें मन्त्र का अर्थ जो स्वयं सन्यास मार्ग वालों ने किया है, उसमें भी कर्मकाण्ड में लगे रहने वालों के लिए अंधकार में प्रवेश करने और उपासना में लगे रहने वालों के लिये उससे भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करनेका कहा गया है। न मालूम एक ही प्रसंग में एक ही टीकाकार ने परस्पर विरोधी अर्थ कैसे किये हैं ?

वास्तव में इस उपनिषद् में कर्मकाण्ड या देवोपासना का विधान बिल्कुल नहीं है, किन्तु आत्म-ज्ञान सहित अपनी अपनी योग्यता के कर्म, यानी सांसारिक व्यवहार करना, मनुष्य मात्र के लिए अत्यन्त आवश्यक विधान किया है, जिससे मनुष्य जीवन-मुक्ति के परमानन्द को प्राप्त करता है। परन्तु साम्प्रदायिक लोगों को तो धार्मिक कर्मकांड, उपासना और अव्यवहारिक सूखे ज्ञान के सिवाय और कोई बात किसी शास्त्र या ग्रन्थ में सूझती ही नहीं। शरीर, समाज और संसार के जीवन के आधारभूत, अपनी अपनी योग्यता के कर्तव्य कर्म, लोक संग्रह के लिए करने के तो नाम से ही इन लोगों को चिढ़ है। न मालूम शरीरों का जीवन, जिन पदार्थों पर निर्भर है, उनके प्राप्त होने का दूसरा कौनसा साधन इन लोगों ने समझ रखा है ? यदि इन लोगों की तरह सब मनुष्य अपने काम धन्धे छोड़ कर केवल धार्मिक कर्मकाण्ड, उपासना और कोरे ज्ञान की बातों में ही लग जाँय, तो स्वयं उनका जीवन भी नहीं रह सकता।

स्वय सन्यास मार्ग वालों ने दूसरे स्थलों पर "विद्या" का अर्थ "ज्ञान" और "अविद्या" का अर्थ "अज्ञान" किया है, परन्तु संसार के व्यवहार करने का विधान उनकी सम्प्रदाय के प्रतिकूल होने के

कारण यहां पर ज्ञान–कर्म समुच्चय के इन स्पष्ट वाक्यों की ऐसी दुर्दशा की गई है। पर इस तरह की खींचातानी करने से भी उनका प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ, किन्तु पूर्वापर के वाक्यों का विरोध होकर असंगति का घोटाला हो गया। ईशावस्य उपनिषद् और भगवद् गीता जैसे सत्शास्त्रों में स्पष्टतया व्यवहारिक–वेदान्त की ब्रह्म–विद्या का प्रतिपादन है, जिसके अवलम्बन से पूर्वकाल में हमारा समाज उन्नति के शिखर पर पहुँचा था, पर हमारी संस्कृति के मूल आधार=इन ग्रन्थों के अर्थ का, साम्प्रदायिक लोगों ने इतना घोटाला किया कि, इस समय लोग इनके रहस्य को कुछ समझ ही नहीं सकते, जिसके कारण अद्वैत वेदान्त के सच्चे, अकाट्य और अनुपम, सर्वोपरि तत्त्व–ज्ञान की उपेक्षा ही नहीं करते किन्तु वर्तमान के शिक्षित लोग उसकी हंसी करते हैं। वास्तव में ईशावास्य उपनिषद् के मन्त्र ज्ञान-कर्म समुच्चय अर्थात् व्यवहारिक आत्म–ज्ञान का स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं। इसलिए ६वें मन्त्र में आत्म–ज्ञान रहित सांसारिक व्यवहार और सांसारिक व्यव–हार रहित कोरे आत्म–ज्ञान दोनों की असंदिग्ध शब्दों में निन्दा की गई है। फिर १०वें मन्त्र में आत्म–ज्ञान और सांसारिक व्यवहार की पृथकता के भेद का प्रतिपादन करने वाले, पूर्वाचार्यों के मतों का उल्लेख करके, ११वें मन्त्र में उनका समुच्चय करते हुए, आत्म–ज्ञान सहित सांसारिक व्यवहार करने का निर्विवाद रूप से विधान किया गया है।

× × × ×

अब आगे के तीन मन्त्रों में उसी विधान की पुष्टि में, व्यष्टि अर्थात व्यक्ति भाव और समष्टि अर्थात् सब के सम्मिलित भाव की एकता का अनुभव करने से पूर्ण आनन्द प्राप्त होने का वर्णन किया गया है:—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याम् रताः ॥१२॥

अन्धम्, तमः, प्रविशन्ति, ये, असम्भूतिम्, उपासते ।
ततः, भूयः, इव, ते, तमः, ये, उ, सम्भूत्याम्, रताः ॥

ये=जो
असम्भूतिम्=व्यष्टि भाव को
उपासते=उपासते हैं अर्थात् व्यक्ति भाव में ही आसक्त रहते हैं (वे)
अन्धंतमः=तमोगुण रूप अन्धकार में।
प्रविशन्ति=प्रवेश करते हैं अर्थात् गिरते है।
उ=और

ततः=उससे भी
भूयइव=अधिकतम
तमः=अन्धकार में
ते=वे (गिरते हैं)
ये=जो लोग
सम्भूत्याम्=(केवल) समष्टि भाव में।
रताः=लगे रहते हैं।

तात्पर्य यह है कि जो लोग दूसरों से अपने को पृथक व्यक्ति, और दूसरों को अपने से पृथक व्यक्ति मान कर, व्यक्तिगत स्वार्थों की खींचातानी में लगे रहते हैं, उनका घोर पतन होता है; और जो व्यक्ति भाव की सर्वथा अवहेलना करके, कोरे समष्टि भाव या सब के सम्मिलित भाव में ही आसक्ति रखते हैं, उनका और भी अधिक पतन होता है; क्योंकि व्यक्तियों का योग ही समष्टि है, इसलिए व्यक्तियों का तिरस्कार करने से समष्टि में स्थिति होती ही नहीं। वे इस बात को भूल जाते हैं कि व्यष्टि ही समष्टि का आधार है। आधार या स्तम्भ को हटा लेने से आधेय या छत की जो दशा होती

है, वही व्यष्टि की उपेक्षा करके समष्टि में लगे रहने का प्रयत्न करने वालों की होती है।

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥

अन्यत्, एव, आहुः, सम्भवात्, अन्यत्, आहुः, असम्भवात्, इति, शुश्रुम, धीराणाम्, ये, नः, तत्, विचचक्षिरे ॥

सम्भवात्=समष्टि भाव की
अन्यत्=अलग
एव=ही (निष्ठा)
आहुः-=कहते हैं (और)
असम्भवात्=व्यष्टि भाव की
अन्यत्=अलग (ही निष्ठा)
आहुः=कहते हैं
इति=ऐसा कहने वाले

धीराणाम्=बुद्धिमान पुरुषों का (मत)
शुश्रुम=हमने सुना है
ये=जिन्होंने
नः=हमारे लिए
तत्=वह (इस विषय के विचारों को)
विचचक्षिरे=प्रस्तुत किया

तात्पर्य यह है कि पहले के तत्त्ववेत्ता लोग, तत्त्वतः ही व्यष्टि और समष्टि को अलग अलग मानने का उपदेश दिया करते थे।

सम्भूतिञ्च विनाशञ्च यस्तद्वेदोभयम् सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥१४॥

सम्भूतिम्, च, विनाशम्, च, यः, तत्, वेद, उभयम्, सह, विनाशेन, मृत्युं, तीर्त्वा, सम्भूत्या, अमृतम, अश्नुते ॥

यः=जो	विनाशेन=असम्भूति अर्थात् नाशवान व्यष्टि भाव द्वारा
तत्=उन	मृत्युं=मृत्यु को
सम्भूतिम्=समष्टि भाव को	तीर्त्वा=जीत कर अर्थात् जीवन यात्रा अच्छी तरह करता हुआ
च=और	सम्भूत्या=सम्भूति अर्थात् समष्टि भाव द्वारा
विनाशम्=व्यष्टि भाव को	अमृतम्=अमर भाव को
उभयम्=दोनों को	अश्नुते=प्राप्त होता है
सह=एक साथ अथवा एक दूसरे से सम्बन्धित	
वेद=जानता है (वह)	

तात्पर्य यह है कि जो व्यष्टि अर्थात् व्यक्ति भाव और समष्टि अर्थात् सब की एकता के भाव में अभेद अर्थात् इन दोनों को अन्योन्याश्रित समझता है, वह नाशवान् व्यष्टि भाव के शरीर के व्यवहारों से, इस लोक अर्थात् भौतिक देह और समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति द्वारा सब प्रकार की उन्नति करता हुआ, जीवन-मुक्ति का अनुभव करता है और समष्टि भाव से अपने को सबकी आत्मा समझ करके पूर्णता रूप परमानन्द में स्थित रहता है ।

स्पष्टीकरण — ९वें, १०वें और ११वें मन्त्रों में सब की एकता के आत्म-ज्ञान युक्त, अपने अपने शरीर की योग्यता के सांसारिक व्यवहार करने का जो विधान किया गया है, उसकी पुष्टि और अधिक खुलासा करने के लिये, १२वें, १३वें और १४ वें मन्त्रों में व्यष्टि अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति भाव को, समष्टि अर्थात् सब व्यक्तियों की एकता के सम्मिलित भाव में जोड़ कर, संसार के व्यवहार करने का रूपान्तर से विधान किया गया है । व्यक्तियों का योग ही समाज और संसार है, और

प्रत्येक व्यक्ति के व्यवहारों के योग से ही संसार के व्यवहार होते हैं; अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपने अपने शरीर की योग्यता के व्यवहार, लोक संग्रह, अर्थात् संसार के खेल को अच्छी तरह सम्पादन करने के लिये यावत् जीवन करते रहना चाहिये, जिससे सब की भौतिक आवश्यकताएँ पूरी होती रहें; और स्वयं (सब के अन्तर्गत होने से) अपने शरीर की जीवन यात्रा भी सुख से होती रहे । परन्तु व्यष्टि व्यवहार सब की भौतिक एकता का अनुभव रखते हुए और अपने को समष्टि के अन्तर्गत समझते हुए करना चाहिये, जिससे पृथक व्यक्तित्व के भाव में आसक्ति होकर कर्मों का बन्धन न हो, किन्तु कर्म करते हुए भी पूर्ण स्वतन्त्रता की जीवनमुक्त अवस्था बनी रहे ।

जो लोग सब की एकता के समष्टि भाव की उपेक्षा करके, अपने पृथक व्यक्तित्व के भाव में ही आसक्ति रखते हैं, और अपने पृथक व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए ही कर्म करते हैं, वे संसार में विषमता और विद्वेष उत्पन्न करते हैं, जिससे कर्मों के बन्धन की पराधीनता में पड़े रहते हैं; और मरने के बाद भी वे उन कर्मों के अनुसार फल भोगने के लिए, हीन योनियों में गिरते हैं ।

और जो लोग व्यष्टि अर्थात् व्यक्तित्व के भाव का सर्वथा तिरस्कार करके, व्यष्टि से समष्टि को अलग मानकर, अपने व्यक्तिगत कर्त्तव्यों की जिम्मेवारी से विमुख होते हैं, और समष्टि भाव के इस खेल में योग नहीं देते, वे स्वावलम्बन से रहित होकर, अपने शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी दूसरों पर निर्भर एवं परावलम्बी बने रहते हैं । उनको इस शरीर में सुख-शान्ति अथवा स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती; और मरने के बाद भी उनकी अधिक अधोगति होती है ।

संन्यास मार्गीय टीकाकारों ने, जिस तरह से ६-१०-११ मन्त्रों के "विद्या और अविद्या" शब्दों के अर्थ का अनर्थ किया है, उसी तरह "सम्भूति" और "असम्भूति" शब्दों के अर्थ की भी दुर्दशा की है। उन्होंने "असम्भूति" का अर्थ "कारण रूप अव्याकृत प्रकृति" और "सम्भूति" का अर्थ "कार्य ब्रह्म हिरण्यगर्भ" करके, इनकी उपासना करने का परिणाम निकाला है। न मालूम उन्होंने "सम्भूति" को "कार्य" और "असम्भूति" को "कारण" किस आधार पर माना है, जब कि "असम्भूति" का स्वतःसिद्ध अर्थ "सम्भूति" का अभाव अथवा "सम्भूति" का विरोधी भाव होना चाहिये। और "कार्य ब्रह्म हिरण्यगर्भ" क्या वस्तु है और उसकी उपासना करने की विधि या उपचार क्या है, इसका भी कुछ वर्णन नहीं किया। इस उपनिषद् के आरंभ से लेकर अन्त तक सब की एकता के आत्म-ज्ञान सहित, अपने अपने शरीरों की योग्यता के कर्त्तव्य=कर्म करने का, सब के लिए स्पष्ट विधान है। किसी देवता अथवा अदृश्य शक्ति या पदार्थ की उपासना करने का, किसी प्रकार का विधान, किसी जगह नहीं है। परन्तु साम्प्रदायिक लोगों को तो सर्वत्र कर्म, उपासना और सूखे ज्ञान के सिवाय और कुछ सूझता ही नहीं; सांसारिक व्यवहारों की तरफ उनका ध्यान ही नहीं जाता।

अस्तु। १२ वें और १३ वें मन्त्रों के अर्थ की इतनी खींचातानी करने से घोटाला इतना बढ़ गया कि १४ वें मन्त्र का अर्थ, इनकी प्रणाली से लगना असम्भव हो गया। तब इस मन्त्र में के "सम्भूति" शब्द के पहले "अ" अपने घर का जोड़ने की कल्पना करके, उससे प्रकृति का अर्थ लगा लिया और "विनाश" शब्द बेचारे "हिरण्य गर्भ" के सिर पर थोपा; जिसको पहले के दो मन्त्रों में "सम्भूति" का सम्मान दिया गया था। इस तरह इस उपनिषद की (स्वामी रामतीर्थ जी

पूषन्=हे शरीरों को धारण पोषण करने वाले जीवात्मा

एकर्षे=हे एक, गति स्वरूप अर्थात् शरीर इन्द्रियां, मन, बुद्धि आदि के संघात को चेतना या स्फूर्ति युक्त करने वाले

यम=हे (इन सबका) शासन करने वाले

सूर्य=हे प्रकाश स्वरूप

प्राजापत्य=हे जगन्नियन्ता सर्वात्मा=परमात्मा के व्यष्टिभावापन्न अंश

रश्मीन=(अपने यथार्थ स्वरूप को आच्छादित करने वाली) बिखरी हुई तेजोमय किरणों को, यानी अलग अलग व्यक्तिभाव के अनन्त बनावों से चकाचौंध करने वाले आवरण को

व्यूह=समेटो या हटाओ (और इन सब के अन्दर)

यत्=जो

ते=तुम्हारा

तेजःसमूह=तेज पुञ्ज है उसे एकत्र करो अर्थात् बिखरे हुए व्यष्टिभाव के तेज को समष्टितेज में सम्मिलित करो

तत्=उस

ते=तुम्हारे (अपने आपके समष्टि भाव के)

कल्याणतमम्=परम कल्याणमयं (सच्चिदानन्द)

रूपम्=रूप को

पश्यामि=मैं देखता हूँ (ऐसा अनुभव करो और साथ ही यह भी अनुभव करो कि)

यः=जो

असौ=यह

पुरुषः=परम पुरुष (सब का आत्मा=परमात्मा) है

सः असौ=सो यह

अहम् अस्मि=मैं (ही) हूँ ।

तात्पर्य यह है कि सब के आत्मा=परमात्मा के जगत रूपी इस खेल के नाना रूपों का एकीकरण करने से ही व्यष्टि जीवात्मा को अपने सर्वात्म-भाव का अनुभव होता है, अर्थात् सब की एकता के

हिरण्यमयेन पात्रेण=सोने के ढकन से अर्थात् मायिक बनाओं से
सत्यस्य=सत्य स्वरूप समष्टि आत्मा का
मुखम्=मुख अर्थात् स्वरूप
अपिहितम्=ढका हुआ है
तत्=उसको
पूषन्=हे शरीरों के धारण पोषण करने वाले और अपने को एक व्यष्टि मानने वाले जीवात्मा
त्वम्=तू (उस)
सत्यधर्माय दृष्टये=सत्यधर्मी=सर्वात्मा के दर्शन के लिए
अपावृणु=खोल दे ।

तात्पर्य यह है कि जगत के नाना प्रकार के मनोहर किन्तु परिवर्तनशील मायिक बनाओं में मोहित हो कर, उन्हीं को सत्य मानने के कारण, शरीरधारी जीवात्मा को अपने शरीर और जगत के आधार, सब के अन्दर अव्यक्त सत्ता रूप से रहने वाले, वास्तविक अपने आप=सत्य आत्मा का ज्ञान नहीं होता; इस लिए जगत् के परिवर्तन शील बनावों को अपने समष्टिभाव का खेल समझ कर उस खेल के खिलाड़ी अपने समष्टि-आत्मा का अनुभव करना चाहिये (गीता अध्याय ७ श्लोक १३-१४ और २४ से २८ तक में भी यही कहा गया है)।

× × × ×

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह ।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥१६॥

पूषन्, एकर्षे, यम, सूर्य, प्राजापत्य, व्यूह, रश्मीन्, समूह, तेजः, यत्, ते, रूपम्, कल्याणतमम्, तत्, ते, पश्यामि, यः, असौ, असौ, पुरुषः, सः, अहम्, अस्मि ॥

सिद्धान्त के विरोधी लोग, जो यह कह कर उपनिषदों की ब्रह्म विद्या का मजाक और तिरस्कार करते हैं कि "इन ग्रन्थों में केवल साम्प्रदायिक ढकोसलों और अव्यवहारिक ज्ञान की खिचड़ी पकी हुई है, एक ही ग्रन्थ के मन्त्रों में परस्पर विरोधी बातें भरी हुई है" इन लोगों के इन मिथ्या आक्षेपों के लिए कोई अवकाश नहीं रहता, किन्तु इन के व्यवहारिक आत्म-ज्ञान का सारगर्भित रहस्य अच्छी तरह उनकी समझ में आ सकता है, जिससे वे लोग इन का समुचित आदर करके लाभ उठा सकते हैं। (गीता के प्रायः सभी अध्यायों में व्यष्टि-समष्टि की एकता और परस्पर में अन्योन्याश्रित होने के ज्ञान सहित संसार के व्यवहार करने का विधान है)।

× × × ×

यहां तक आत्म-ज्ञान सहित संसार के व्यवहार करने का विधान करके, अब अन्त के चार मन्त्रों में फिर उसी विषय की अधिक पुष्टि में, मनुष्यों की अन्तरात्मा को लक्ष करके, उसको अज्ञान के पर्दे से हटाकर अपने वास्तविक स्वरूप का अनुभव करने और नाशवान् असत् शरीरों की आसक्ति त्याग कर सत् में स्थिति करके, लोक-संग्रह के लिये सत्-कर्म करते रहने को उत्साहित किया गया है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥

हिरण्मयेन, पात्रेण, सत्यस्य, अपिहितम्, मुखम्,
तत्, त्वम्, पूषन्, अपावृणु, सत्यधर्माय, दृष्टये ॥

महाराज के शब्दों में) इतनी दुर्दशा की गई कि, साधारण जनता उपनिषदों की ब्रह्म-विद्या के सच्चे अर्थ को न पा सकने के कारण, उसके अनुपम लाभ से वंचित रह गई और इन ग्रन्थों पर लोगों की अश्रद्धा हो गई। सब लोग अपने कर्तव्य कर्मों से विमुख हो गये, जिसके परिणाम स्वरूप देश का घोर अधः पतन हो गया।

वास्तव में इस उपनिषद् के आदि से अन्त तक के मन्त्रों का समन्वय करने से "संभूति" शब्द का अर्थ सब की एकता का समष्टिभाव और "असम्भूति" शब्द का अर्थ, उसके विपरीत, पृथकता का व्यष्टिभाव ही युक्ति-संगत निष्पन्न होता है। इस अर्थ से कुछ भी गड़बड़ी नहीं होती किन्तु सारे ग्रन्थ की संगति और एक वाक्यता सिद्ध हो जाती है।

१४ वें मन्त्र में "असम्भूति" शब्द के बदले "विनाश" शब्द का प्रयोग इसलिए हुआ है कि पृथकता के व्यक्तित्व के भावों में, एकता न होने से, उनकी उत्पत्ति और नाश होते हैं और वे सदा बदलते रहते हैं; परन्तु "सम्भूति" अर्थात् समष्टि में एकता का भाव होने के कारण वे अविनाशी हैं। 37350

६-१०-११ मन्त्रों के "विद्या" और "अविद्या" शब्दों का अर्थ क्रमशः "ज्ञान" और "अज्ञान" और १२ वें १३ वें तथा १४ वें मन्त्रों के "सम्भूति" और "असम्भूति" शब्दों का अर्थ, क्रमशः समष्टि और व्यष्टि, स्वाभाविक और युक्ति संगत है। इस तरह अर्थ करने से साम्प्रदायिक टीकाकारों ने जो खींचातानी करके घोटाला किया है, वह मिट जाता है; पूर्वापर का विरोध न रह कर सब मन्त्रों की एकवाक्यता होकर परस्पर की संगति मिल जाती है, जिससे सब लोग इस ब्रह्म-विद्या का महत्व निश्चित रूप से सहज ही समझ सकते हैं, और निशंक होकर इससे लाभ उठा सकते हैं। तथा

 आधुनिक शिक्षित समाज, एवं आर्य-संस्कृति अथवा अद्वैत-वेदान्त